वर्तमान सांस्कृतिक हिंसा की ज़रूरी समझ

आलोक टंडन

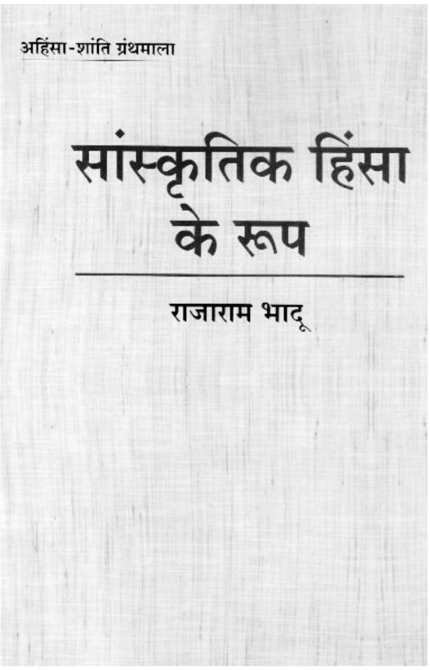

सांस्कृतिक हिंसा के रूप

राजाराम भादू

प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर

पृष्ठ : 176

मूल्य : ₹ 320 / -

'सांस्कृतिक हिंसा का अध्ययन उस प्रक्रिया को प्रकाश में लाता है, जिससे प्रत्यक्ष हिंसा के कर्म और संरचनात्मक हिंसा के तथ्य का वैधीकरण होता है और इस प्रकार वह समाज में स्वीकरणीय हो जाती है। सांस्कृतिक हिंसा की कार्य पद्धति किसी भी कर्म के नैतिक स्वरूप को लाल / अनुचित के बजाय हरा / उचित या कम-से-कम पीला / स्वीकरणीय दिखा देना है।'

– जोहन गाल्तुंग (इसी पुस्तक से)

कई कारणों से समीक्ष्य पुस्तक महत्त्वपूर्ण है। मानवीय समाज में हिंसा-अहिंसा के विमर्श में रुचि रखने वालों के लिए लेखक ने, जोहन गाल्तुंग के हिंसा की प्रकृति के विश्लेषण संबंधी, अंतर्दृष्टिपूर्ण अवधारणाओं को समझने का स्थान प्रदान किया है। प्रत्यक्ष हिंसा, संरचनात्मक हिंसा के बारे में हम काफ़ी समय से परिचित हैं कि कैसे हिंसा के इस अवधारणात्मक विस्तार से हमें समाज में व्याप्त संरचनात्मक हिंसा को समझने में

मदद मिलती है। किंतु हिंसा के त्रिभुज की तीसरी अवधारणा – 'सांस्कृतिक हिंसा' और उसके प्रत्यक्ष और संरचनात्मक हिंसा से संबंधों के बारे में जानकारी कम है। यह पुस्तक उस कमी को पूरा करने का प्रयास करती है, जो वैचारिक दृष्टि से निश्चय ही महत्त्वपूर्ण है। लेकिन, मेरे विचार से, पुस्तक की प्रासंगिकता इस बात से कई गुना बढ़ जाती है कि इसमें हिंसा की उक्त अवधारणाओं को वर्तमान भारतीय समाज में तेज़ी से आ रहे परिवर्तन को समझने के लिए प्रयुक्त किया गया है। भारतीय समाज में सांप्रदायिक हिंसा, दलित-भेद, लैंगिक विषमता के साथ-साथ आर्थिक और शैक्षणिक क्षेत्रों में भी व्याप्त हिंसा को सांस्कृतिक हिंसा के फ्रेमवर्क से विश्लेषित कर उनके निदान के लिए सृजनात्मक सुझावों के कारण यह पुस्तक सामयिक प्रश्नों से अपने ढंग से जूझने का मार्ग सुझाती है। एक अच्छी बात यह भी है कि हिंसा के अहिंसक प्रतिकार और शांति की रणनीतियों पर चर्चा करते हुए लेखक गांधी तक पहुँचते हैं और अपनी संबद्धता गांधी-दर्शन से दर्शाते हैं। इस तरह वे एक अहिंसक और शांतिपूर्ण समाज के निर्माण के पक्ष में, वस्तुपरक और संवेदनशील ढंग से, अपनी उपस्थिति दर्ज करते हैं।

लेखक ने, अपने उपरोक्त विवेचन को, पुस्तक में आठ अध्यायों में समाहित किया है। प्रथम अध्याय, 'संस्कृति के निहितार्थ' में सबसे जटिल प्रश्न – संस्कृति जैसे जटिल प्रत्यय को समझने का प्रयास किया है। संस्कृति की समझ को लेकर जो विभ्रम की स्थिति हमारे समाज में व्याप्त है, उसे देखते हुए यह क़दम विमर्श की स्पष्टता के लिए ज़रूरी था। हमारे यहाँ संस्कृति की समझ दो वैचारिक ख़ेमों में बँटी हुई है। पहला ख़ेमा उसे शुद्ध, सनातन मानते हुए किसी सुदूर गौरवपूर्ण अतीत में, किसी स्वर्णमणि के समान, प्रतिष्ठित मानता है, जो एक खोज का विषय है। दूसरी दृष्टि संस्कृति को चिरंतन गतिशील, विकासमान और ऐतिहासिक रूप से परिवर्तनशील मानती है जो सदा नवीनीकरण की प्रक्रिया से गुज़रती है। पहली दृष्टि जहाँ संस्कृति को वृक्ष के तने के रूप में देखती है तो दूसरी के लिए नदी का रूपक उपयुक्त है। इस मतभेद की चर्चा न करते हुए भी लेखक दूसरी दृष्टि का हामी है किंतु इस मतभेद और उससे जुड़े वैचारिक-राजनीतिक पूर्वग्रहों पर भी कुछ चर्चा अपेक्षित थी क्योंकि इससे निश्चय ही सांस्कृतिक-राष्ट्रवादी परियोजना में परोक्ष रूप से व्याप्त सांस्कृतिक हिंसा के स्वरूप को समझने में मदद मिलती।

सामान्यतः संस्कृति को दो तरह से परिभाषित किया जाता रहा है। पहला दृष्टिकोण उसे दर्शन, साहित्य, कलाओं, स्थापत्य तक सीमित मानकर उसकी संकीर्ण व्याख्या करता है जहाँ संस्कृति मानसिक परिष्कार और आनंद का स्रोत है। किंतु नृतत्व शास्त्रीय दृष्टि इससे भिन्न है, इसमें मनुष्य का लगभग समस्त सीखा हुआ व्यवहार समाहित है। उसकी मूल्य-मान्यताएँ, धर्म-आस्थाएँ, विचार-भावनाएँ, भाषा एवं कला आदि सभी संस्कृति के अंग माने जाते हैं। कुछ लोग भौतिक और पराभौतिक तत्त्वों को सभ्यता और संस्कृति के रूप में अलग-अलग करके देखते हैं किंतु दोनों रूप अविछिन्न होने के

22alok_tandon_Layout 1 22-02-2024 16:23 Page 470

कारण ऐसा करना उचित नहीं लगता। संस्कृति दोनों का समुच्चय है और लेखक ने उसे वर्तमान और अतीत के बीच संधिसेतु ही माना है जो समाज को एक परिधि में बाँधता है। मुख्य बात यह है कि 'यह सामाजीकरण का माध्यम है और मूल्य संरचना की नियामक है।' (पृ. 10)। लेकिन विशेष बात यह है कि यहीं लेखक हमारा ध्यान पारस्परिक साहचर्य के साथ सांस्कृतिक द्वन्द्व की प्रक्रिया की ओर भी खींचना चाहता है जो संस्कृति की ग्रहणशीलता और नवीनीकरण को बढ़ावा देती है। वर्तमान में, भारतीय संस्कृति के सामने जहाँ एक ओर भूमंडलीकरण के कारण पाश्चात्य संस्कृति के वर्चस्व की चुनौती है तो दूसरी ओर उसकी प्रतिक्रिया में उभरते सांस्कृतिक पुनरुत्थानवाद की अगुआई कर रहे धार्मिक कट्टरपंथ से लड़ने की चुनौती भी है। सांस्कृतिक संक्रमण के इस दौर को लेखक ने ठीक ही पहचाना है। (पृ.13) लेकिन लेखक सदियों से चली आ रही हमारी संस्कृति की मूल्य दृष्टि और उनके अर्जन की प्रक्रिया के बीच अंतर्विरोध की ओर इंगित करने से चूक गए हैं। यह मानते हुए भी कि हमारे समकालीन जीवन मूल्य हमारे संविधान की प्रस्तावना में संहिताबद्ध है, लेखक यह बताना भूल गए हैं कि हमारे वर्तमान सांस्कृतिक संकट के पीछे उन मूल्यों के प्रति आस्था का क्षरण भी है। ऐसा प्रतीत होता है कि संस्कृति ऐसे व्यापक एवं जटिल विषय के लिए पहला अध्याय छोटा पड़ गया है। क्योंकि कई बातें जो सूत्र रूप में कही गई हैं, वे आवश्यक विस्तार की अपेक्षा रखती हैं। जैसे मनुष्य क्या है, ऐसे दार्शनिक प्रश्न को एक प्रक्रिया मात्र कहकर जल्दी से निपटाया नहीं जा सकता। यदि सार्त्र के शब्दों में कहें कि 'मनुष्य वह नहीं है जो वह है, बल्कि वह है जो हो सकता है' तो फिर संस्कृति का प्रश्न मानव के भविष्य का प्रश्न भी बन जाता है। ऐसे में सांस्कृतिक हस्तक्षेप महत्त्वपूर्ण हो जाता है किंतु उसके मानदंड क्या होंगे, उनका निर्णय कौन करेगा, इन प्रश्नों से टकराना भी अनिवार्य हो जाता है। एक महत्त्वपूर्ण सवाल संस्कृतियों के आपसी टकराव का भी है जिसकी ओर हटिंग्टन ने ध्यान दिलाया है। इस टकराव को क्या सांस्कृतिक हिंसा के अंतर्गत समझा जा सकता है? इससे बचने के लिए संस्कृतियों की अंतर्क्रिया का कौन-सा प्रारूप उचित होगा, यह भी एक महत्त्वपूर्ण सवाल है जिसकी अनदेखी नहीं की जा सकती।

दूसरा अध्याय 'हिंसा के उत्स और स्वरूप' से संबंधित है और विषय को वैचारिक आधार प्रदान करने का प्रयास करता है। इसमें मुख्य रूप से जोहन गाल्तुंग की हिंसा के विवेचन को लेकर मौलिक अवधारणाओं, संरचनात्मक और सांस्कृतिक हिंसा की विस्तार से चर्चा की गई है। हिंसा के प्रत्यय को प्रत्यक्ष वैयक्तिक शारीरिक हिंसा से विस्तृत कर, सामाजिक व्यवस्था के कारण अपरोक्ष रूप से व्याप्त भूख, ग़रीबी, शोषण, दमन, बहिष्करण और सामाजिक अन्याय के विभिन्न क्षेत्रों को समाहित कर, उसको 'संरचनात्मक हिंसा' के विविध रूप मानकर अध्ययन करने का श्रेय गाल्तुंग को ही है। लेखक ने उनके विचारों को स्पष्ट करते हुए

22alok_tandon_Layout 1 22-02-2024 16:23 Page 471

'संरचनात्मक हिंसा' की अवधारणा को 'सामाजिक अन्याय' और 'शोषण' की प्रचलित अवधारणाओं से अधिक उपयोगी माना है और तर्क दिए हैं जो विवेचन का विषय हो सकते हैं। संरचनात्मक हिंसा के अदृश्य दुश्चक्र को समझने में लेखक दूर तक सफल दिखाई देता है लेकिन वह उन संरचनाओं को नामित करने से कहीं कतराता सा नजर आता है और केवल संरचनात्मक हिंसा के मूल में शक्ति के विभाजन को चिह्नित करता है जिसके लिए सामाजिक ढाँचे का श्रेणीकरण ज़िम्मेदार है। (पृ. 35)

चूँकि पुस्तक लिखने का मूल उद्देश्य सांस्कृतिक हिंसा के विविध रूपों का निरूपण करना है, इसलिए उसके विवेचन पर ध्यान देना ज़्यादा ज़रूरी है। सांस्कृतिक हिंसा से लेखक का तात्पर्य उस हिंसा से है जो प्रत्यक्ष और संरचनात्मक हिंसा को औचित्य और वैधता प्रदान करने के लिए प्रचलित सांस्कृतिक प्रतीकों-विधानों द्वारा की जाती है। (पृ. 41) इसके अंतर्गत धर्म-विचारधारा, भाषा-कलाओं और आनुभविक व औपचारिक विज्ञानों का सहारा लिया जाता है। इनमें सांस्कृतिक प्रतीक चिह्नों जैसे झंडे, सैन्य परेड, नायकों की मूर्तियाँ, तस्वीरें, भड़काऊ भाषण, पवित्र पुस्तक, प्रार्थनाएँ आदि का उपयोग किया जाता है। निश्चय ही संस्कृति के कुछ पहलू ही इसमें प्रयुक्त होते हैं जो हिंसा के प्रयोग को औचित्य / वैधता प्रदान करते हैं। हमारे ऊपर शांति को औचित्य और वैधता प्रदान करने वाले सांस्कृतिक पक्षों की खोज और उन पर आधारित शांतिपूर्ण संस्कृति की निर्मिति का दायित्व भी है। अतः शांति अध्ययन के लिए भी दो मुद्दों पर विचार करना आवश्यक हो जाता है – हिंसा का प्रयोग और हिंसा के प्रयोग का औचित्य उत्पाद।

सांस्कृतिक हिंसा के दुष्चक्र के विश्लेषण से लेखक ने यह स्पष्ट किया है – 'सामान्यतः सांस्कृतिक से संरचनागत और फिर प्रत्यक्ष की ओर हिंसा का क्रमिक प्रवाह साफ़ देखा जा सकता है। संस्कृति प्रवचन, उपदेश और प्रबोधन द्वारा ऐसा नज़रिया विकसित करती है, जिससे शोषण और उत्पीड़न को एक सामान्य और प्राकृतिक परिघटना के रूप में देखा जा सके। कुल मिलाकर शोषण को शोषण की तरह न समझा जा सके।' (पृ. 48)... इस तरह संरचनात्मक हिंसा की श्रेणी को सांस्कृतिक हिंसा और प्रभावी बना देती है। (पृ. 49) इसके अंतर्गत ऐसी मान्यताओं जैसे पुरुष स्त्रियों की तुलना में अधिक बुद्धिमान होते हैं, कुछ नस्लें दूसरों से श्रेष्ठ होती हैं, कुछ राष्ट्र ही आधुनिक सभ्यता के संवाहक हैं, जो व्यक्ति शिखर पर हैं वही सर्वश्रेष्ठ हैं और विशेषाधिकार और शक्ति के अधिकारी हैं – आदि को स्वीकार करा दिया जाता है जिससे अन्याय, शोषण, दमन और बहिष्करण को प्रश्नांकित न किया जा सके। धर्म, विचारधारा, भाषा, कला, औपचारिक विज्ञान आदि सभी की इसमें भूमिका खोजी जा सकती है। लेखक ने प्रत्यक्ष हिंसा को एक 'घटना', संरचनात्मक हिंसा को एक 'प्रक्रिया' और सांस्कृतिक हिंसा को एक 'स्थाई परिघटना' माना है। ये तीनों मिलकर हिंसा के एक त्रिभुज का निर्माण करती हैं जिसमें हिंसा

त्रिभुज के किसी भी कोने से शुरू हो सकती है। लेखक के विश्लेषण का सार यह है कि – 'हिंसक संरचनाओं को संस्थाबद्ध करने और हिंसक संस्कृति के आत्मसातीकरण के बाद प्रत्यक्ष हिंसा अधिक घातक और आवृत्तिमूलक हो जाती है।' (पृ. 59) अतः हिंसा के इस त्रिभुज को निष्प्रभावी करने के लिए शांति के भी ऐसे त्रिकोण की रचना करने की आवश्यकता है जिसकी संरचना में विभिन्न सहभागियों के बीच समता और सहजीवन पर आधारित संबंध हों।

आगे के अध्यायों में लेखक ने, सांस्कृतिक हिंसा की उपर्युक्त वैचारिक समझ से संरचनात्मक हिंसा के विभिन्न क्षेत्रों को व्याख्यायित करने का प्रयास किया है। विकास बनाम दरिद्रता के दुष्चक्र पर टिप्पणी करते हुए लेखक ने आर्थिक विकास के वर्तमान प्रारूप को विकास मानने से इंकार किया है क्योंकि इसमें आर्थिक वृद्धि की उच्च दर के बावजूद रोज़गार में कमी आ रही है, धर्मांधता बढ़ रही है, जनतांत्रिक व्यवस्था शिथिल हो रही है और असमानता बढ़ती जा रही है। इसके लिए लेखक एडम स्मिथ ऐसे चिंतकों को भी ज़िम्मेदार ठहराते हैं जिन्होंने आर्थिक क्षेत्र में पूँजीवाद के विचार को समर्थन और औचित्य प्रदान किया। इसलिए उनकी वैचारिकी को सांस्कृतिक हिंसा के अंतर्गत ही रखा जाना चाहिए।

सांप्रदायिक हिंसा के अपने विवेचन में लेखक स्पष्ट रूप से घोषणा करते हैं कि 'सांप्रदायिक हिंसा साफ़ तौर पर सांस्कृतिक हिंसा है, जहाँ उसके औचित्य प्रतिपादन के लिए धर्म और मत का आधार मौजूद है। वस्तुतः यह दो संस्कृतियों की वर्चस्व के लिए हिंसक टकराहट है।' (पृ. 80)। सामान्यतः यह तो स्वीकार कर लिया जाता है कि धर्म में राजनीति के समावेश से सांप्रदायिकता का जन्म होता है जो सत्ता के समर्थन और संरक्षण से और भी अधिक ख़तरनाक हो जाती है, किंतु उसे औचित्य / वैधता प्रदान करने वाले तत्व 'धर्म और मत' की अनदेखी की जाती है। राजनीति निश्चित रूप से पलीते में आग लगाने का कार्य करती है, किंतु यदि धार्मिक विद्वेष की बारूद पहले से ही मनों में विराजमान न हो तो उसे सांप्रदायिक हिंसा को विस्फोटक रूप नहीं दिया जा सकता। इसलिए सांप्रदायिक सद्भावना के लिए किसी भी प्रयास के लिए पारस्परिक विद्वेष और अविश्वास को जड़ से समाप्त किए जाने की ज़रूरत को रेखांकित करने के लिए लेखक बधाई के पात्र हैं। (पृ. 85) इस बैर भाव के पीछे हिंदू समाज में गहराई से बैठा उत्पीड़ित होने का बोध है। यह अंशतः तथ्यों के सरलीकरण पर आधारित है जो अपने विरुद्ध जाने वाली स्मृतियों को भुला देती है और एक अविश्वासपूर्ण जातीय स्मृति का निर्माण करती है, व्यक्ति की तरह / समाज भी इन ऐतिहासिक स्मृतियों से मुक्त नहीं हो पाते और अतीतजीवी होकर किसी काल्पनिक गौरवशाली समय में लौटना चाहते हैं। भारत में हिंदू और मुसलमान, दोनों समुदाय उत्पीड़ित होने के इस भाव से पीड़ित हैं जिसे तार्किक संवाद से तोड़ने की ज़रूरत है। लेखक ने यहाँ मौन 'शांति' के विरोध में सक्रिय 'शांति' को एक सामाजिक प्रक्रिया, लक्ष्य के रूप में प्रस्तावित किया है जहाँ

22alok_tandon_Layout 1 22-02-2024 16:23 Page 473

शांति, न्याय से जुड़ी होती है और सामाजिक जनतंत्र के रूप में संस्थाबद्ध होती है।

लेखक ने, वर्तमान वैश्विक संदर्भ में, संस्कृतियों के बचाव, टकराव और सह-अस्तित्व के गंभीर प्रश्न को भी अतिरेकी प्रवृत्ति से ऊपर उठकर रूपांतरकारी संवाद के ज़रिए हल करने का प्रस्ताव किया है। इसके लिए वे एक मूलगामी प्रश्न उठाते हैं कि यदि हम सह-अस्तित्व चाहते हैं तो संस्कृतियों को कैसे देखेंगे? हम इन्हें किसी आदिकालीन परम-पावन निर्मिति के रूप में देखेंगे या विविधता और भिन्नता के साथ विकसित होती परिघटना के रूप में देखेंगे? यूरोप-केंद्रित नवजागरण से संस्कृतियों को बचाने की चिंता को वाजिब मानते हुए लेखक संस्कृतियों के भीतर तानाशाही के सवाल को भी कम गंभीर नहीं मानते। इस तरह वह सांस्कृतिक हिंसा के बाहरी और भीतरी दोनों पहलुओं को समझने में हमारी मदद करते हैं। लेखक की स्पष्ट मान्यता है कि संस्कृतियाँ संसाधनों पर नियंत्रण करने का तंत्र भी हैं जिसके अंतर्गत लोगों को शक्ति संरचनाओं की 'स्वाभाविक' और सामान्य स्वीकृति के लिए तैयार किया जाता है। इस तरह उनकी प्रतिक्रिया वर्चस्वशाली नज़रिए से परिचालित होती है। अतः जब हम शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की बात करते हैं तब वास्तव में हम शक्ति के कई मुखौटों के सह-अस्तित्व की बात कर रहे होते हैं। (पृ. 93) यहीं पर लेखक एक मौलिक नैतिक प्रश्न उठाता है कि 'क्या हम इन सांस्कृतिक पहचानों और सर्वसत्तावादी मूल्यों के स्वघोषित प्रतिनिधियों के बीच सह-अस्तित्व चाहते हैं जो उन पर भीतर अथवा बाहर से सवाल उठाने की इजाज़त नहीं देते?' (पृ. 94) उनका स्पष्ट उत्तर है कि 'हर संस्कृति में मूल्यों का एक सोपान क्रम है जिसे चुनौती दी जा सकती है। ऐसे में सह-अस्तित्व का समर्थन करने से पहले सवाल उठता है कि हम मूल्यों के किस क़िस्म के सोपान क्रम को देखना चाहते हैं।' (पृ. 95) स्थापित संस्थागत ढाँचों के अंतर्गत इस तरह का संवाद सम्भव नहीं दीखता। लेखक के अनुसार नागरिक समाज से इस संवाद की शुरुआत के लिए सत्याग्रह का कोई विकल्प नहीं है। किंतु यहीं यह प्रश्न उठना भी समीचीन होगा कि आज के सांप्रदायिक ध्रुवीकरण के माहौल में क्या नागरिक समाज इसके लिए तैयार है? गांधी के नाम से चलने वाली संस्थाओं से क्या अब कोई उम्मीद बची है?

पुस्तक का अगला अध्याय जाति-विद्वेष और द्वंद्व के महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर केंद्रित है। निश्चय ही भारत में जाति-विभेद संरचनात्मक हिंसा का वीभत्स रूप है। किंतु हज़ारों साल से, प्रतिरोध के बावजूद, इसके बने रहने का राज क्या है? लेखक ने इसके लिए ब्राह्मणवाद की सांस्कृतिक संरचना को ज़िम्मेदार माना है। ब्राह्मणवाद संस्कृतीकरण की प्रक्रिया से विद्रोही चेतना को कुंद कर देता है। आंबेडकरवादी आंदोलन भी ब्राह्मणवाद द्वारा किए जाने वाले इस आत्मसातीकरण का शिकार हो रहा है। इसके अंतर्गत निम्न जातियाँ भी उच्च जाति में प्रवेश की प्रबल आकांक्षा के कारण, उच्च जातियों की जीवन पद्धति अपनाने लगती हैं। परिणामस्वरूप जातिवाद रूप बदलकर बचा रहता है।

22alok_tandon_Layout 1 22-02-2024 16:23 Page 474

हिंदू धर्म का जाति आधारित सामाजिक संरचना से गहरा संबंध है। लेखक ने इसे सफलतापूर्वक दर्शाया है कि किस तरह हिंदू धर्म में प्रचलित कर्म और पुनर्जन्म की मान्यताएँ जाति व्यवस्था को औचित्य / वैधता प्रदान करती हैं। जाति का प्रभाव इतना गहरा और व्यापक है कि व्यक्ति की पहचान उसके गुण, कर्म और योग्यता से न होकर उनकी जाति से होती है। जाति व्यवस्था एक पिरामिडनुमा सोपान-क्रम है जिसमें क्षैतिजिक और रैखिक अंतरभेद सक्रिय हैं। यह विषमता की जनक है और इसने समाज में वैमनस्य के विकास में बड़ी भूमिका निभाई है। (पृ. 101) लेकिन महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि सकारात्मक कार्रवाई के तहत आरक्षण की व्यवस्था को अपनाने के बावजूद आंबेडकर का जाति विनाश का सपना अधूरा क्यों है? क्या यह अस्मितावादी राजनीति के कारण भटकाव का शिकार हो गया है? सवर्ण जातियों से गांधी का हृदय परिवर्तन का आग्रह भी जाति विद्वेष को कम करने में असफल क्यों है? पुनर्जन्म और कर्मफलवाद की अबौद्धिक मान्यताओं से पीछा कैसे छूटे? इन प्रश्नों पर भी यदि लेखक ने विचार किया होता तो शायद भारतीय समाज में सांस्कृतिक हिंसा के इस विद्रूपतम रूप से निपटने के लिए कोई दृष्टि हमें मिल पाती। यद्यपि लेखक ने प्रसिद्ध शिक्षा शास्त्री पाब्लो फ्रेयरे की अंतर्दृष्टि को इस दिशा में प्रेरणास्पद माना है जिसमें उत्पीड़क और उत्पीड़ित दोनों की अमानवीयकरण से मुक्ति के लिए उत्पीड़ितों द्वारा अभियान चलाने का आह्वान है किंतु इसमें अंतर्निहित ख़तरों और द्वंद्वों के परिणामस्वरूप किसी ठोस योजना का प्रारूप लेखक नहीं सुझा पाते।

लेखक के अनुसार धर्म और ईश्वर के बाद राष्ट्रवाद अगली सांस्कृतिक अवधारणा है जो सांस्कृतिक हिंसा को औचित्य प्रदान करती है, अतः उस पर भी विचार न केवल आवश्यक है बल्कि आज के उग्र राष्ट्रवादी दौर में समीचीन भी। 'राज्य', 'राष्ट्र' और 'राष्ट्र-राज्य' के बीच भेद करते हुए लेखक ने नस्लवाद और जातीयता केंद्रित यूरोपीय राष्ट्रवाद से स्वतंत्रता आन्दोलन में उपजे भारतीय राष्ट्रवाद को अलग ढंग से देखने का आग्रह किया है। वे 'सकारात्मक राष्ट्रवाद' के पक्षधर हैं जिसमें राष्ट्र किसी विशेष धर्म, नस्ल या जाति से बँधी संकीर्ण इकाई नहीं है, इसे धर्म के कट्टरपंथियों के हाथ में गिरवी नहीं होने देना चाहिए। आज जब सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की आड़ में हिंदू राष्ट्रवाद की संकीर्ण, आक्रामक विचारधारा को स्थापित करने का प्रयास किया जा रहा है, लेखक से यह अपेक्षा थी कि वह इसमें छिपी सांस्कृतिक हिंसा पर थोड़े विस्तार से चर्चा करता जिससे सम्भावित ख़तरों के प्रति पाठक को जागरूक होने में मदद मिलती। राज्य द्वारा पाठ्य पुस्तकों में परिवर्तन द्वारा इतिहास की सांप्रदायिक समझ का विस्तार और सोशल मीडिया द्वारा उसके दिन-रात प्रचार की चर्चा के बिना लेखक का विश्लेषण अधूरा सा लगता है।

भारतीय समाज में सांस्कृतिक हिंसा के अपने विवेचन में लेखक ने स्त्री प्रश्न, शिक्षा और भाषा के प्रश्न को भी समेटने का प्रयास किया है। स्त्रियों के उत्पीड़न के लिए मूलतः पितृसत्ता को ज़िम्मेदार माना जाता है। उसके सांस्कृतिक पक्ष को पहचानते हुए लेखक की मान्यता है कि 'पितृसत्ता स्त्री के समक्ष सिर्फ़

22alok_tandon_Layout 1 22-02-2024 16:23 Page 475

भौतिक बाधा ही नहीं खड़ी करती, बल्कि वह स्त्री के मन का भी अनुकूलन करती है। पितृसत्ता ऐसी परिस्थितियाँ निर्मित करती है, जिससे स्त्री पितृसत्ता के मूल्यों को आत्मसात कर ले, उनका आंतरिकीकरण कर ले' (पृ. 115-116)। स्त्रियों को बचपन से ही घर में भेदभाव झेलने की आदत डाल दी जाती है। बेटे को शिक्षा, खेलकूद, आहार, चिकित्सा, सामाजिक मेलजोल में प्राथमिकता दी जाती है। बालिकाओं के लिए निषेध की बड़ी लक्ष्मण रेखा खींच दी जाती है। लेखक मौजूदा पश्चिमी स्त्रीवाद को उच्चतर स्त्रीवाद मानते हुए भी भारतीय समाज के लिए स्त्रीवाद की प्राथमिकता उससे भिन्न मानते हैं क्योंकि भारतीय स्त्री की समस्या के मूल में समाज की सामंती संरचना है, यद्यपि वे स्त्री-पुरुष के लिए समान अवसर की माँग का समर्थन करते हैं। पितृसत्ता द्वारा अनुमोदित सांस्कृतिक हिंसा में किस तरह एक स्त्री दूसरी स्त्री के प्रति हिंसा में पुरुष की साझीदार बन जाती है, उस मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया का थोड़ा विश्लेषण भी लेखक से अपेक्षित था।

भाषाओं के विलुप्तीकरण के प्रश्न को सांस्कृतिक हिंसा से जोड़ते हुए लेखक ने ध्यान दिलाया है कि प्रत्येक भाषा एक विशिष्ट विश्व दृष्टि का निर्माण करती है, दो भाषाओं की विश्व दृष्टि कभी समान नहीं होती। प्रत्येक भाषा की अपनी संस्कृति होती है जो अपने वाचिक समुदाय की कल्पना, स्मृति और व्यवहारों का अधिकोश होती है। भाषा के विलुप्त होने से वह संस्कृति भी विलुप्त हो जाती है। जन भाषा सर्वेक्षण के अनुसार भारत में पिछले पाँच दशकों में लगभग 220 भाषाएँ विलुप्त हो गईं। यह चिंताजनक स्थिति है। यह बात भी थोड़ी अचम्भित करने वाली है कि भाषाई हिंसा के प्रश्न पर विचार करते हुए लेखक भारतीय समाज में अंग्रेज़ी के वर्चस्व के प्रश्न पर विचार करने से क्यों चूक गया। भारत में अंग्रेज़ी, औपनिवेशिक दासता से मुक्ति के बावजूद आज भी वर्चस्वशाली है और स्थानीय भाषाओं के विकास में बाधक है। वर्चस्वशाली वर्गों को वैधता प्रदान करने में अंग्रेज़ी की भूमिका का विवेचन भी समीचीन था।

शिक्षा, संस्कृति का महत्त्वपूर्ण घटक है जो उसका संतरण और निर्माण दोनों ही करती है। परम्परागत शिक्षा प्रणाली जहाँ सामाजिक वैषम्य के सामन्तवादी मूल्यों को प्रश्रय देती थी, वहीं पश्चिम से आयातित आधुनिक शिक्षा प्रणाली बच्चों को औद्योगिक समाज के अनुकूल बनाने का कार्य करती है, जो अपने आप में एक हिंसक समाज ही है। शिक्षा यदि जनतांत्रिक मूल्यों को साथ लेकर चलती है तो उसका स्थापित सांस्कृतिक मूल्यों से तनाव स्वाभाविक है। लेखक ने इस ओर इशारा किया है कि जब शिक्षा सांस्कृतिक पुनरुत्थान के माध्यम के रूप में शासक वर्ग द्वारा प्रायोजित की जाती है तो यह धार्मिक अस्मिताओं को और मज़बूत करके सांप्रदायिक विद्वेष को बढ़ावा देती है। लेकिन वे वर्तमान में लागू नई शिक्षा प्रणाली की सम्यक आलोचना करने से बचकर निकल गए लगते हैं। शायद इसी कारण अत्यधिक प्रतिद्वन्द्विता को बढ़ावा देने वाली वर्तमान शिक्षा प्रणाली जो अंततः एक हिंसक मनुष्य का ही निर्माण करती है, को भी सांस्कृतिक हिंसा के एक रूप में पहचानने से

22alok_tandon_Layout 1 22-02-2024 16:23 Page 476

चूक गए हैं, जिसे जे. कृष्णमूर्ति ने स्पष्ट रूप से दर्शाया है।

पुस्तक के अंतिम दो अध्याय 'हिंसा के प्रतिकार' और 'शांति-उपक्रम' पर आधारित हैं। इनमें लेखक ने गौतम बुद्ध, महात्मा गांधी, नेल्सन मंडेला, किशन पटनायक आदि के विचारों-कार्यों की रोशनी में हिंसा-मुक्त समाज के निर्माण की सम्भावनाओं पर विचार किया है। वे गांधी की अंतर्दृष्टियों के विशेष रूप से क़ायल हैं। वे इस बात को ज़ोर देकर कहते हैं कि गांधी की अहिंसा में केवल हिंसा की अनुपस्थिति नहीं थी, उसमें करुणा के सकारात्मक मूल्य का भी अनिवार्य समावेश था। (पृ. 139)। लेकिन सांस्कृतिक हिंसा की दृष्टि से गांधी की महत्त्वपूर्ण अंतर्दृष्टि, लेखक के अनुसार यह थी कि – 'उन्होंने जातिगत दमन में अंतर्निहित हिंसा और विभिन्न धार्मिक ग्रन्थों व परम्पराओं में मौजूद हिंसा के सम्भावित औचित्य – निरूपणों को अस्वीकार किया। यह उनकी धर्मशास्त्रीय सर्जनात्मकता का प्रभाव है कि वे प्रचलित पारंपरिक प्रयासों से एक मूलगामी टूट की पैरवी करते हुए भी, अपनी बात एक पारंपरिक स्वर में कह पाए।' (पृ. 136) सांस्कृतिक हिंसा से लड़ने का यही मॉडल लेखक को वरेण्य है। लेकिन वे *मनुस्मृति* जैसे ग्रन्थों को कटघरे में खड़ा करने से बच कर निकल जाते हैं। यह अभीष्ट नहीं है।

लेखक इस बात से भली भाँति परिचित है कि मनोवैज्ञानिकों में इस बात को लेकर अनवरत विमर्श जारी है कि मनुष्य में हिंसा या आक्रामकता जन्मजात है या अर्जित या परिस्थितिगत। फिर भी वे इस निष्कर्ष की ओर झुकते दिखाई देते हैं कि 'प्रकृति हमें केवल हिंसा के लिए समर्थ बनाती है। हम उस सामर्थ्य का इस्तेमाल करें या नहीं अथवा कैसे करें, यह हमारी सामाजिक परिस्थिति द्वारा निर्धारित होता है।' (पृ.157) इसलिए हिंसा से मुक्ति के लिए हम सामाजिक परिस्थितियों के पुनर्निर्माण की नैतिक ज़िम्मेदारी से बच नहीं सकते। इसी संदर्भ में लेखक ने नैतिकता के स्रोतों को भी खँगालने का काम किया है और यह प्रश्न भी उठाया है कि आख़िर नैतिकता का निर्धारण कैसे हो, किंतु कई लेखकों-विचारकों (अज्ञेय, पुरुषोत्तम अग्रवाल, नंद किशोर आचार्य, विनोबा, अशोक वाजपेयी, किशन पटनायक आदि) के विचारों के अवगाहन के बावजूद किसी ठोस नतीजे पर पहुँचते दिखाई नहीं देते, यद्यपि वे अहिंसा को नैतिकता की आधारभूमि मानते हुए हिंसा के सामूहिक अहिंसक प्रतिकार की गांधी की पद्धति के समर्थक जान पड़ते हैं। यहीं पर वह अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को अन्याय के प्रतिकार के लिए प्रथम क़दम के रूप में आवश्यक मानते हैं और सार्वभौमिक मानवाधिकार घोषणा पत्र (1948) की वकालत करते हैं। वे अपनी पुस्तक का अंत दो सवालों के साथ ही करते हैं – 'क्या मानवाधिकारों की संकल्पना एक नई अहिंसक संस्कृति की आधार भूमि हो सकती है? क्या मानवाधिकारों का सम्मान और उसके लिए सत्याग्रह नैतिक आयाम की एक बुनियादी कसौटी नहीं है।' (पृ. 174)

पुस्तक के अंतिम अध्याय में लेखक शांति-उपक्रम के लिए बहुसंस्कृतिवाद का

22alok_tandon_Layout 1 22-02-2024 16:23 Page 477

समर्थन करते दीखते हैं। उनकी मान्यता है कि 'प्राचीन काल से भारत में बहुसंस्कृतिवाद का दर्शन परिलक्षित होता है। देशी ही नहीं विदेशी संस्कृतियों को हमने आत्मसात किया है और उन्हें सम्मिलित रूप से नाम दिया है – 'भारतीय संस्कृति'। संविधान निर्माण में भी हमने बहुसंस्कृतिवाद को अपनाया है' (पृ. 164)। ऐसा लगता है कि लेखक 'सांस्कृतिक बहुलता' और 'बहुसंस्कृतिवाद' के बीच अंतर न करने की भूल कर रहे हैं। सांस्कृतिक बहुलता हमारी संस्कृति की ऐतिहासिक आधारभूमि है किंतु 'बहुसंस्कृतिवाद' तो आधुनिक पश्चिम से उपजा दर्शन है जो विभिन्न सांस्कृतिक समूहों की अस्मिता को अलग-अलग सुरक्षित रखने का उपक्रम है जिससे एक संकीर्ण मानसिकता पनपती है और सांस्कृतिक टकराव को जन्म देती है। इसी कारण हमने संविधान में धर्मनिरपेक्षता को अपनाया है, बहुसंस्कृतिवाद को नहीं। भले ही उसके क्रियान्वयन में अनेक ग़लतियाँ हुई हों, किंतु भारतीय संदर्भ में धर्मनिरपेक्षता का क्या कोई विकल्प है, जहाँ धर्म आधारित अस्मिताबद्ध समूहों के बीच टकराव आज की ज्वलंत समस्या बन गई है?

सबसे महत्त्वपूर्ण अंतर्दृष्टि जो इस पुस्तक को पढ़कर मुझे स्पष्ट हुई वह यह है कि सांस्कृतिक हिंसा की अवधारणा का उपयोग हम विभिन्न संस्कृतियों के मूल्यांकन के लिए एक मानदंड के रूप में कर सकते हैं और देख सकते हैं कि एक अहिंसक समाज के निर्माण के लिए उनमें क्या-क्या फेर-बदल अपेक्षित है। निश्चय ही यह बात हमें संस्कृति के प्रश्न पर आलोचनात्मक ढंग से विचार / हस्तक्षेप की न केवल प्रेरणा देती है बल्कि एक विवेक मंत्र भी देती है कि हम उसका पुनर्निर्माण किस आधार पर करें। अंततः यह दृष्टि हमें अतीत में खोई किसी गौरवमयी संस्कृति की खोज में भटकने / भटकाने की राजनीति से न केवल सतर्क करती है बल्कि एक वैकल्पिक मार्ग भी प्रशस्त करती है।

आज मानसिक विउपनिवेशीकरण की चर्चा के दौर में जब इस बात पर बहुत ज़ोर दिया जा रहा है कि भारतीय समाज के यथार्थ को ठीक से व्याख्यायित करने के लिए हमें पश्चिम से आयातित विचार सरणियों के स्थान पर नई भारतीय सरणियों की ज़रूरत है, सांस्कृतिक हिंसा की अवधारणा भारतीय समाज में व्याप्त हिंसा को गहराई से समझने में मददगार हो सकती है और इस पर विदेशी होने का आरोप भी नहीं लगाया जा सकता क्योंकि इसके मूल में अहिंसा की परम्परागत अवधारणा का गांधी द्वारा नवोन्मेष ही है।

अंत में सांस्कृतिक हिंसा की अवधारणा के सैद्धान्तिक विवेचन और भारतीय संदर्भ में उसके विविध रूपों का स्पष्ट विश्लेषण करने के लिए लेखक, राजाराम भादू निश्चय ही साधुवाद के पात्र हैं। सीधी, सरल, प्रवाहमयी भाषा में एक नये प्रत्यय को अधिक पढ़े-लिखे और सामान्य पाठकों तक पहुँचाने का सफलतापूर्वक जो कार्य उन्होंने किया है उससे हिंदी पट्टी की बौद्धिक विपन्नता कुछ ज़रूर कम होगी। हिंदी जगत उनका आभार मानते हुए भविष्य में भी ऐसी चिंतनशील पुस्तकों की अपेक्षा रखेगा।